पहनावे का सामाजिक इतिहास

इस पर शायद ही हमारा ध्यान जाता हो कि हम जो कपड़े पहनते हैं, उनका भी एक इतिहास है। विभिन्न वर्गों व तबकों के लोग–मर्द, औरत, बच्चे–क्या पहनें, इसको लेकर हर समाज में कुछ न कुछ नियम होते हैं, और कहीं-कहीं तो उनका सख्ती से पालन भी किया जाता है। इन कायदों से दुनिया में लोगों की पहचान बनती है, इन्हीं के ज़रिए वे खुद को परिभाषित करते हैं। इन्हीं से सौम्यता और सुंदरता की, शर्म व मर्यादा की हमारी कसौटियाँ बनती हैं। वक्त बदलता है तो बदलते हैं ये विचार और कपड़ों में आए परिवर्तनों में इन विचारों की झलक आसानी से देखी जा सकती है।

आधुनिक दुनिया के उदय का इतिहास कपड़ों में हुए नाटकीय बदलाव का इतिहास भी है। इस अध्याय में हम आधुनिक काल यानी उन्नीसवीं व बीसवीं सदी में हुए बदलावों के बारे में पढ़ेंगे।

ये दोनों सदियाँ अहम क्यों हैं?

अठारहवीं सदी में जनवादी क्रांतियों और पूँजीवादी विकास के पहले यूरोप के ज़्यादातर लोग क्षेत्रीय वेशभूषा धारण करते थे और उनके कपड़ों का रंग-रूप उनके इलाके में उपलब्ध कपड़े की किस्म और कीमत से भी तय होता था। पहनावे की शैलियाँ भी स्थानीय समाज में लोगों की सामाजिक हैसियत से तय होती थीं-इससे फ़र्क पड़ता था कि आप किस वर्ग के हैं, आप मर्द हैं या औरत।

अठारहवीं सदी के बाद दुनिया के अधिकांश हिस्से यूरोप के उपनिवेश बना लिए गए। जनतांत्रिक आदर्शों का प्रसार हुआ और समाज औद्योगिक होने लगे। इन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप लोगों की वेशभूषा व उसके मायने पूरी तरह बदल गए। अब लोग दूसरी संस्कृतियों या इलाकों में उपलब्ध सामग्री व शैली को अपना सकते थे और दुनिया भर के लोग पश्चिमी परिधान में सजने लगे।

आपने अध्याय 1 में देखा कि फ्रांसीसी क्रांति ने किस तरह सामाजिक व राजनीतिक जीवन के कई पहलुओं को बदल कर रख दिया। क्रांति की आँधी में उस समय की परिधान-संहिता, जो सम्प्चुअरी लॉ कहलाती थी, भी उड़ गई। आखिर ये कानून थे क्या?

© NCERT not to be republished

1 सम्प्चुअरी कानून और सामाजिक ऊँच-नीच

मध्यकालीन यूरोप में समाज के विभिन्न तबकों पर परिधान-संहिताएँ लागू करने के लिए सचमुच के कानून बनाए जाते थे और कानून में अकसर बारीक चीज़ों पर भी ध्यान दिया जाता था। करीब 1294 से फ्रांसीसी क्रांति (1789) तक, फ्रांस के लोगों से उम्मीद की जाती थी कि वे सम्प्चुअरी कानूनों का पालन करें। इन कानूनों का मकसद था समाज के निचले तबकों के व्यवहार का नियंत्रण-उन्हें खास-खास कपड़े पहनने, खास व्यंजन खाने और खास तरह के पेय (मुख्यत: शराब) पीने और खास इलाकों में शिकार खेलने की मनाही थी। इस तरह मध्यकालीन फ्रांस में साल में कोई कितने कपड़े खरीद सकता है, यह सिर्फ़ उसकी आमदनी पर निर्भर नहीं था बल्कि उसके सामाजिक ओहदे से भी तय होता था। परिधान सामग्री भी कानून-सम्मत होनी थी। सिर्फ़ शाही खानदान ही बेशकीमती कपड़े पहन सकता था। **एर्माइन**, फ़र, रेशम, मखमल या ज़री की पोशाक सिर्फ़ राजा-रजवाड़े ही पहन सकते थे। कुलीनों से जुड़े कपड़ों के जनसाधारण द्वारा इस्तेमाल पर पाबंदी थी।

फ्रांसीसी क्रांति ने इस भेदभाव का अंत कर दिया। जैसा कि आप पहले अध्याय को पढ़कर जान चुके हैं, जैकोबिन क्लब के सदस्यों ने खुद को 'सौं कुलॉत' इसलिए कहना शुरू किया कि वे कुलीन वर्ग के फ़ैशनदार 'घुटन्ना' पहनने वाले लोगों से खुद को अलग दिखा सकें। 'सौं कुलॉत' का शाब्दिक मतलब ही था 'बिना घुटन्ने वाले'। इसके बाद मर्द-औरत दोनों ही ढीले-ढाले और आरामदेह कपड़े पहनने लगे। फ्रांसीसी तिरंगे के तीन रंग-नीला, सफ़ेद और लाल-लोकप्रिय हो गए और इन्हें पहनना देशभक्त नागरिक की निशानी बन गया। पोशाक के रूप में दूसरे राजनीतिक प्रतीक भी पहने जाने लगे : स्वतंत्रता की निशानी लाल टोपी, लंबी-पतलून और तिरछी टोपियाँ, जिन्हें **कॉकेड** कहा जाता था। पहनावे की सादगी से समानता का भाव प्रकट होता था।

चित्र 1 : अठारहवीं सदी के इंग्लैंड की एक उच्च वर्गीय जोड़ी.
अंग्रेज़ कलाकार टॉमस गेन्सबोरो (1727-1788) द्वारा बनायी गई तस्वीर।

नए शब्द

एर्माइन : फ़र की एक किस्म।
कॉकेड : एक तरफ़ करके पहनी जाने वाली टोपी।

© NCERT not to be republished

चित्र 3 : मध्यवर्गीय महिला, 1791.

चित्र 4 : फ्रांसीसी क्रांति के स्वयंसेवक.

चित्र 2 : फ्रांसीसी क्रांति के दौरान एक कुलीन जोड़ी.
गौर करें कि पोशाक कितना भव्य और विस्तृत है। ज़रा महिला की चूड़ामणि, सिर-सज्जा और फीतों की किनारियाँ भी देखें। उसने गाउन के भीतर कॉर्सेट भी पहन रखी है। इससे उसकी कमर सीमित और छोटी रहती थी, ताकि वह पतली कमर वाली दिखे। कुलीन पुरुष अपने ज़माने के रिवाज के अनुसार सैनिकों वाला लंबा ओवरकोट, घुटन्ना, रेशमी स्टॉकिंग और ऊँची एड़ी वाले जूते पहने हुए है। दोनों ने सजधज वाले नकली विग (केश) लगा रखे हैं और दोनों के चेहरों पर नाज़ुक गुलाबी रंग है। ऐसा इसलिए कि कुदरती त्वचा का रंग दिखना अशोभनीय माना जाता था।

चित्र 5 : एक सौं कुलॉत परिवार, 1793.

© NCERT not to be republished

बॉक्स 1

सारे सम्प्चुअरी कानून सामाजिक ऊँच-नीच पर ज़ोर नहीं देते थे। इनमें से कुछ कानून तो आयात से देशी उत्पादों की रक्षा के लिए बनाए गए थे। मिसाल के तौर पर, सोलहवीं सदी के इंग्लैंड में, फ्रांसीसी और इतालवी सामग्री का आयात कर बनायी गई मख़मल की टोपियाँ पुरुषों में बहुत लोकप्रिय थीं। इंग्लैंड ने कानून बनाकर ऊँचे ओहदे के लोगों और छः साल से नीचे के बच्चों को छोड़कर सभी के लिए रविवार को और छुट्टियों के दिन इंग्लैंड में बनी ऊनी टोपी पहनना अनिवार्य कर दिया। यह कानून 26 साल तक कायम रहा और इससे इंग्लैंड के ऊनी वस्त्र उद्योग को खड़ा करने में मदद मिली।

क्रियाकलाप

चित्र सं. 2 से 5 को देखें। इन तस्वीरों की भिन्नता से क्रांतिकालीन फ्रांस के समाज व उसकी संस्कृति के बारे में क्या पता चलता है?

2 पोशाक और खूबसूरती के पैमाने

सम्प्चुअरी कानूनों के खात्मे का यह मतलब कतई नहीं था कि यूरोपीय देशों में हर कोई एक-जैसी पोशाक पहनने लगा हो। फ्रांसीसी क्रांति ने समता का सवाल उठाया था और कुलीन विशेषाधिकारों और उनको समर्थन देने वाले कानूनों की इति कर दी थी। लेकिन सामाजिक तबकों के बीच अंतर बदस्तूर कायम रहा। ज़ाहिर है कि गरीब न तो अमीरों जैसे कपड़े पहन सकते थे न ही वैसा खाना खा सकते थे। फर्क यह था कि अगर वे ऐसा करना चाहते तो अब कानून बीच में नहीं आने वाला था। इस तरह अमीर-गरीब की परिभाषा, उनकी वेशभूषा सिर्फ़ उनकी आमदनी पर निर्भर हो गई और अलग-अलग वर्गों ने अपनी-अपनी वेशभूषा विकसित की जिसमें खूबसूरती-बदसूरती, उचित-अनुचित, शालीनता व फूहड़पन के विचार व मानक अलग-अलग थे।

पहनावे की शैलियों का फ़र्क मर्दों और औरतों के बीच भी था। विक्टोरियाई इंग्लैंड में महिलाओं को बचपन से ही आज्ञाकारी, ख़िदमती, सुशील व दब्बू होने की शिक्षा दी जाती थी। आदर्श नारी वही थी जो दुख-दर्द सह सके। जहाँ मर्दों से धीर-गंभीर, बलवान, आज़ाद और आक्रामक होने की उम्मीद की जाती थी वहीं औरतों को क्षुद्र, छुई-मुई, निष्क्रिय व दब्बू माना जाता था। पहनावे के रस्मो-रिवाज में भी यह अंतर झलकता था। छुटपन से ही लड़कियों को सख्त फीतों से बंधे कपड़ों - **स्टेज़**-में कसकर बाँधा जाता था। मकसद यह था कि उनके जिस्म का फैलाव न हो, उनका बदन इकहरा रहे। थोड़ी बड़ी होने पर लड़कियों को बदन से चिपके **कॉर्सेट** पहनने होते थे। टाइट फीतों से कसी पतली कमर वाली महिलाओं को आकर्षक, शालीन व सौम्य समझा जाता था। इस तरह विक्टोरियाई महिलाओं की अबला-दब्बू छवि बनाने में पोशाक ने अहम भूमिका निभाई।

2.1 महिलाओं ने इन तौर-तरीकों को कैसे लिया?

आदर्श नारी की इस परिभाषा को बहुत सारी महिलाएँ मानती थीं। यह संस्कार उनके माहौल में - उस हवा में जहाँ वे साँस लेतीं, वह साहित्य जो वे पढ़तीं और घर व स्कूल में जो शिक्षा उन्हें दी जाती थी - सर्वव्याप्त था। बचपन से ही उन्हें घुट्टी पिला दी जाती थी कि पतली कमर रखना उनका नारी-सुलभ कर्तव्य है। सहनशीलना स्त्रीत्व का ज़रूरी गुण है। आकर्षक व स्त्रियोचित दिखने के लिए उनका कॉर्सेट पहनना आवश्यक था। इसके लिए शारीरिक कष्ट या यातना भोगना मामूली बात मानी जाती थी।

लेकिन इन मूल्यों को सभी औरतों ने स्वीकार नहीं किया। उन्नीसवीं सदी के दौरान विचार भी बदले। इंग्लैंड में 1830 के दशक तक महिलाओं ने लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए लड़ना शुरू कर दिया। **सफ़्रेज आंदोलन** के ज़ोर पकड़ने पर पोशाक-सुधार की मुहिम भी चल पड़ी। महिला पत्रिकाओं ने बताना शुरू कर दिया कि तंग लिबास व कॉर्सेट पहनने से

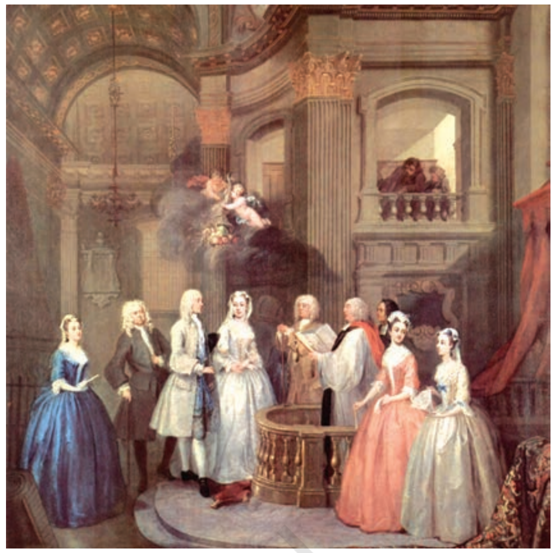

*चित्र 6 - **उच्चवर्गीय शादी का दृश्य,** अंग्रेज़ चित्रकार विलियम होगार्थ (1697-1764) की कृति.*

*चित्र 7 - **कुलीन घराने की बच्ची,** विलियम होगार्थ का चित्र. इतनी कम उम्र में भी इतनी पतली कमर पर आपने गौर किया होगा। यह संभवत: कॉर्सेट के कसाव का नतीजा था। लंबे गाउन से उसकी गति ज़रूर बाधित होती होगी।*

नए शब्द

स्टेज़ : शरीर सीधा रखने के लिए महिला पोशाक का हिस्सा।

कॉर्सेट : चुस्त व सख्त ज़नाना बॉडिस। इससे देह की आकृति बनती थी।

सफ़्रेज आंदोलन : मताधिकार के लिए चलाया गया आंदोलन। सफ़्रेज आंदोलनकारी महिलाओं को भी मताधिकार देने के समर्थक थे।

युवतियों में कैसी-कैसी बीमारियाँ और विरूपताएँ आ जाती हैं। ऐसे पहनावे जिस्मानी विकास में बाधा पहुँचाते हैं, इनसे रक्त-प्रवाह भी अवरुद्ध होता है। मांसपेशियाँ अविकसित रह जाती हैं और रीढ़ भी झुक जाती है। डॉक्टरों ने बताया कि महिलाएँ आम तौर पर कमज़ोरी की शिकायत लेकर आती हैं, बताती हैं कि शरीर निढाल रहता है, जब-तब बेहोश हो जाया करती हैं।

स्रोत क

मेरी सॉमरविल का नाम अग्रणी महिला गणितज्ञों में आता है। अपने बचपन के अनुभव उन्होंने यूँ बयान किए हैं:

'हालाँकि मैं अच्छी-भली सीधी और स्वस्थ थी लेकिन मुझे सख्त स्टेज़ में कस दिया जाता था, आगे स्टील की **बस्क** (Busk) होती थी और मेरे फ्रॉक के ऊपर लगे फीते मुझे इतनी ताकत से पीछे खींचे रहते कि मेरे कंधे की पट्टियाँ मिल जातीं। फिर स्टील की छड़ का एक अर्ध-वृत्त मेरी ठुड्डी के नीचे से होता हुआ मेरे स्टेज़ की स्टील खपच्ची में फँसा होता था। मुझे और मेरी सहेलियों को अपनी पढ़ाई इसी दबी-बंधी स्थिति में करनी पड़ती।'

मार्था सॉमरविल, (सं.) *पर्सनल रिफ़्लेक्शन्स फ़्रॉम अर्ली लाइफ़ टू ओल्ड एज ऑफ़ मेरी सॉमरविल*, लंदन 1873।

स्रोत ख

महिलाओं के बीच प्रचलित वेशभूषा के स्वास्थ्य-संबंधी खतरों पर लिखते हुए उस समय के कुछ सरकारी अधिकारी तो व्यग्र हो उठे थे। कॉर्सेट पर हुए इस हमले को ही देखिए:

'शरीर विज्ञान कहता है कि हवा प्राणदायी है, और गर्दन में रस्सी लगाने और कसे हुए फीते बाँधने में बहुत ज़्यादा फ़र्क नहीं है... दम तो दोनों ही स्थितियों में घुट सकता है। कई बार तो, तंग स्टेज़ पहनने का नतीजा ही यही है - दुबला होना, झड़ जाना या मर जाना'।

महापंजीकार, *नाइन्थ ऐन्युअल रिपोर्ट*, 1857

स्रोत ग

क्या आप जानते हैं कि मशहूर अंग्रेज़ कवि जॉन कीट्स (1795-1821) की नज़र में आदर्श महिला कौन थी? वह 'उस दूधिया-गोरी भेड़ जैसी थी जो मर्द की सुरक्षा पाने के लिए मिमियाती हो'।

अपने उपन्यास *वैनिटी फ़ेयर* (1848) में थैकरे ने अमीलिया नामक महिला पात्र के आकर्षण का यूँ बखान किया:

'मेरे खयाल से उसकी कमज़ोरी ही उसका मुख्य आकर्षण थी, एक मधुर, सुकुमार निर्बलता का अहसास, जो उससे मिलने वाले हर मर्द में सहानुभूति और संरक्षण का भाव पैदा करता था।'

गतिविधि

स्रोत क और ख पढ़ें। इनसे आपको विक्टोरियाई समाज में पहनावे से जुड़े विचारों के बारे में क्या पता चलता है? अगर आप मेरी सॉमरविल के स्कूल की प्रिंसिपल होते, तो आप इन कपड़ो को सही कैसे ठहराते?

नए शब्द

बस्क : लकड़ी, इस्पात या ह्वेल की हड्डी से बनी पट्टी जिसे कॉर्सेट को सख्त बनाने, सहारा देने के लिए आगे लगाया जाता था।

गतिविधि

अबलापन और परनिर्भरता के ये विचार महिलाओं के पहनावे में किस तरह झलकते हैं?

© NCERT not to be republished

अमेरिका में भी पूर्वी तट के गोरे प्रवासी बाशिंदों के बीच ऐसा ही आंदोलन चला। पारंपरिक ज़नाना लिबास को कई कारणों से बुरा बताया गया। कहा गया कि लंबे स्कर्ट (घाघरा, लहँगा) फ़र्श बुहारते चलते हैं, अपने साथ-साथ कूड़ा बटोरते हुए चलते हैं जो बीमारी का कारण है। फिर स्कर्ट इतने विशाल होते थे कि संभलते ही नहीं थे और चलने में परेशानी होने के कारण औरतों का काम करके जीविका कमाना मुहाल था। वस्त्र-सुधार से महिलाओं की स्थिति में बदलाव आएगाा, ऐसा कहा गया। कपड़े अगर आरामदेह हों तो औरतें काम-धंधा कर सकती हैं, स्वतंत्र भी हो सकती हैं। राष्ट्रीय महिला मताधिकार सभा ने श्रीमती स्टैन्टन के नेतृत्व में और लूसी स्टोन वाली महिला मताधिकार सभा ने 1870 के दशक में पोशाक-सुधार के लिए मुहिम चलाई। उनका कहना था: कपड़ों को सरल बनाओ, स्कर्ट छोटी करो और कॉर्सेट का त्याग करो। इस तरह अटलांटिक के दोनों तरफ़ आसानी से पहने जाने वाले कपड़ों की मुहिम चल पड़ी।

चित्र 8 - संयुक्त राज्य अमेरिका की एक महिला, पोशाक-सुधार के पहले.
देखें कि कैसे उसका लंबा गाउन फर्श बुहार रहा है। सुधारकों ने इसी तरह की पोशाक की आलोचना की।

बॉक्स 2

रैशनल ड्रेस रिफ़ॉर्म आंदोलन (सरल बनाओ, पोशाक सुधारो आंदोलन)

श्रीमती अमेलिया ब्लूमर पहली अमेरिकी सुधारक थीं जिन्होंने एड़ी तक के ट्राउज़र पर ढीले-ढाले ट्यूनिक पहनने का चलन चलाया। ट्राउज़र के और भी नाम थे, जैसे, ब्लूमर, रैशनल्स या 'निकरबॉकर्स'। इंग्लैंड में रैशनल ड्रेस सोसायटी की शुरुआत 1881 में हुई, लेकिन इससे कुछ ख़ास नतीजे नहीं निकले। महिलाओं के पहनावे में गुणात्मक बदलाव प्रथम विश्वयुद्ध के कारण हुआ।

सामाजिक मूल्यों में बदलाव लाने में सुधारक फ़ौरन कामयाब नहीं हुए। उन्हें उपहास और रंज दोनों झेलना पड़ा। दकियानूस तबकों ने हर जगह परिवर्तन का विरोध किया। उनका प्रलाप यह होता था कि पारंपरिक शैली के परिधान छोड़ देने से महिलाओं की खूबसूरती तो जाती ही रही थी, उनका ज़नानापन और उनकी शालीनता भी गायब हो गई थी। इन लगातार हमलों से त्रस्त होकर कई महिला सुधारकों ने अपने कदम वापस घरों में खींच लिए और एक बार फिर पारंपरिक पोशाक पहनने लगीं।

फिर भी, उन्नीसवीं सदी के अंत तक हवा का रुख बदल चुका था। कई तरह के दबावों में आकर सौंदर्य के विचार और पहनावे की शैलियों में बुनियादी बदलाव आए। नये वक्त के साथ नये मूल्य चलन में आए।

2018-19

3 नया दौर

ये नये मूल्य क्या थे? और बदलाव का दबाव कैसे बना?

ब्रिटेन में नई सामग्री व नई प्रौद्योगिकी ने इस परिवर्तन को संभव बनाया। दो विश्वयुद्धों व महिलाओं की कार्यस्थिति में आए परिवर्तन के चलते भी कुछ और बदलाव हुए। आइए थोड़ा पीछे चलकर देखें कि ये परिवर्तन क्या थे।

3.1 नई सामग्री

सत्रहवीं सदी के पहले ज़्यादातर ब्रिटिश महिलाओं के पास आमतौर पर फ़्लैक्स, लिनेन या ऊन के कपड़े बहुत कम होते थे। इन्हें साफ़ करना भी मुश्किल होता था। सन 1600 के बाद भारत के साथ व्यापार के चलते सस्ती व रखरखाव में आसान भारतीय छींट कई यूरोपियों के घरों और अलमारियों का हिस्सा बन गई।

फिर औद्योगिक क्रांति हुई जिसके दौरान उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन ने सूती कपड़ों का थोक उत्पादन और भारत सहित कई देशों में निर्यात करना शुरू किया। यूरोप के बहुत बड़े तबके के लिए सूती वस्त्र अब आसानी से उपलब्ध हो गया। बीसवीं सदी की शुरुआत तक कृत्रिम रेशों से बने कपड़े और ज़्यादा सस्ते तथा साफ़ कर पहनने में आसान हो गए।

महिला पत्रिकाओं में तूफ़ान खड़ा कर देने वाले भारी-भरकम व उलझाऊ अंतर्वस्त्रों को 1870 के दशक तक धीरे-धीरे त्याग दिया गया। कपड़े अब हल्के, छोटे और पतले होने लगे। लेकिन फिर भी 1914 तक तो कपड़े एड़ी तक होते ही थे और यह लंबाई तेरहवीं सदी से बदस्तूर चली आ रही थी। लेकिन अगले साल, 1915 में ही, स्कर्ट का पाँयचा उठकर अचानक पिंडलियों तक सरक आया।

यह सब यकायक हुआ कैसे?

*चित्र 9 – **बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बदलता पहनावा.***

चित्र 9 (क) – मध्य और उच्च वर्ग की महिलाओं की पहनावे की शैलियाँ भी बदल गई और झालर भी गायब हो गए।

चित्र 9 (ख) – प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रितानी हथियार फ़ैक्ट्री में काम करती महिलाएँ। इस समय युद्ध के चलते उत्पादन की माँग को पूरा करने के लिए हज़ारों की तादाद में औरतें काम करने के लिए बाहर निकलीं। सहज गति की ज़रूरत से पहनावे की शैली भी बदली।

© NCERT not to be republished

3.2 महायुद्ध

महिला परिधान में कई बदलाव तो विश्वयुद्धों के कारण हुए।

यूरोप में ढेर-सारी औरतों ने ज़ेवर और बेशकीमती कपड़े पहनने छोड़ दिए। उच्च वर्ग की महिलाएँ अन्य तबको की नारियों से घुलने-मिलने लगीं, जिससे सामाजिक सीमाएँ भी टूटीं और महिलाएँ एक-सी दिखने लगीं।

पहले विश्वयुद्ध (1914-1918) के दौरान कपड़ों के छोटे होने के निहायत व्यावहारिक कारण थे। ब्रिटेन में 1917 तक आते-आते 70,000 औरतें हथियार की फ़ैक्ट्रियों में काम कर रही थीं। वे ब्लाउज़ व पैंट की कामकाजी वर्दी पर ऊपर से स्कार्फ़ डाल लेती थीं—बाद में इस वर्दी ने ओवरऑल के साथ टोपी का रूप ले लिया। जंग के लंबा खिंचने के साथ-साथ चटख रंग गायब होने लगे, हल्के रंग पहने जाने लगे यानी कपड़े सादे और सरल हो गए। स्कर्ट तो छोटे हुए ही, ट्राउज़र भी जल्द ही पाश्चात्य महिला की पोशाक का अहम हिस्सा बन गया। इससे उन्हें चलने-फिरने की बेहतर आज़ादी हासिल हुई और सबसे ज़रूरी बात, सहूलियत की खातिर औरतों ने बाल भी छोटे रखने शुरू कर दिए।

बीसवीं सदी आते-आते कठोर और सादगी-भरी जीवन-शैली गंभीरता और प्रोफ़ेशनल अंदाज़ का पर्याय हो गई। बच्चों के नए विद्यालयों में सादी पोशाक पर ज़ोर दिया गया और तड़क-भड़क को हतोत्साहित किया गया। लड़कियों के पाठ्यक्रम में भी जिम्नास्टिक व खेलों का प्रवेश हुआ। खेलने-कूदने में उन्हें ऐसे कपड़ों की दरकार थी जिससे उनकी गति में बाधा न पड़े। उसी तरह काम हेतु बाहर जाने के लिए उन्हें आरामदेह और सुविधाजनक कपड़ों की ज़रूरत थी।

इस तरह आपने गौर किया होगा कि पहनावे का इतिहास समाज के वृहत्तर इतिहास से नथा-गुँथा है। हमने यह भी देखा कि पहनावे और खूबसूरती की परिभाषा कैसे समाज की प्रभुत्वशाली संस्कृति और रवैये से तय होती है, और कैसे ये खयाल वक्त के साथ बदल जाते हैं। यह भी साफ़ हो गया होगा कि किस तरह सुधारकों और रूढ़िवादियों के बीच इन आदर्शों को शक्ल देने के लिए संघर्ष चले, और टेक्नॉलाजी व अर्थव्यवस्था के बदलाव तथा नए वक्त के दबाव ने लोगों को परिवर्तन की ज़रूरत का अहसास कराया।

© NCERT not to be republished

4 औपनिवेशिक भारत में बदलाव

इस दौर में भारत में क्या हो रहा था?

औपनिवेशिक काल में पुरुष और नारी-परिधानों में महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। एक तरफ़ तो इसके पीछे पश्चिमी ड्रेस शैली और मिशनरियों के काम का असर था, तो दूसरी तरफ़ भारतीयों द्वारा प्रचारित ऐसे पहनावे का भी, जो देसी परंपरा व संस्कृति में रचा-बसा हो। कपड़ा और पहनावा दरअसल राष्ट्रीय आंदोलन के निहायत महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गए। उन्नीसवीं सदी में हुए बदलावों पर एक उड़ती नज़र डालें तो बीसवीं सदी के परिवर्तन की बेहतर समझ बन पाएगी। जब उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी वेशभूषा आई तो हिंदुस्तानियों की प्रतिक्रिया तीन तरह की थी:

एक : बहुत से लोग, खासकर मर्द, पाश्चात्य पहनावे की कुछ चुनिंदा चीज़ों को अपनाने लगे। पश्चिमी फ़ैशन के कपड़े अपनाने वालों में पहला नंबर पश्चिमी भारत के अमीर पारसियों का था। बैगी ट्राउज़र और फेंटा (या हैट) के साथ कॉलरवाले कोट ओर बूट पहने जाते थे। और जेंटलमैन दिखने में कोई कसर न रह जाए, इसलिए हाथ में एक छड़ी भी ले ली जाती थी। इस समूह के लोगों के लिए पश्चिमी परिधान आधुनिकता और प्रगति का प्रतीक था।

पश्चिमी ड्रेस का आकर्षण समाज के कुछ वर्ग में भी था जिन्होंने इसे अपना लिया था। उनके लिए यह मुक्ति का प्रतीक था। यहाँ भी औरतों से ज़्यादा मर्दों ने यह चलन अपनाया।

दो : कुछ लोगों का निश्चित मत था कि पश्चिमी संस्कृति से पारंपरिक सांस्कृतिक अस्मिता का नाश हो जाएगा। उनके लिए पश्चिमी पोशाक पहनना कलयुग के आने जैसा था। यहाँ छपे कार्टून में धोती के साथ बंगाली बाबू द्वारा फ़िरंगी बूट और हैट पहनने के लिए उसका मखौल उड़ाया गया है।

तीन : कुछ पुरुषों ने इस दुविधा का हल ऐसे ढूँढ़ा कि बगैर अपनी भारतीय पोशाक छोड़े पश्चिमी कपड़े पहनने शुरू कर दिए। उन्नीसवीं सदी के आखिरी हिस्से में कई बंगाली अफ़सरों ने घर के बाहर काम के लिए पश्चिमी शैली के वस्त्र रखने शुरू किए और घर आते ही वे आरामदेह हिंदुस्तानी कपड़ों में समा जाते थे। बीसवीं सदी के मानवशास्त्री वेरियर एल्विन याद करते हैं कि पूना में पुलिसकर्मी ड्यूटी से आते वक्त सड़क पर ही कपड़े बदल लेते और घर तक सिर्फ़ 'ट्यूनिक व अंतर्वस्त्र' में ही

चित्र 13 - इंडियन शारीवारी में छपा एक कार्टून, 1873.

चित्र 10 - बंबई में पारसी, 1863.

चित्र 11 - गोवा में इसाई धर्म और पश्चिमी पहनावा अपनाने वाले, 1907.

चित्र 12 - कार्टून, 'द मॉडर्न पैट्रियट', गगनेन्द्रनाथ टैगोर, बीसवीं सदी की शुरुआत में.

एक ऐसे बेवकूफ आदमी की व्यंग्यपूर्ण तस्वीर जो पश्चिमी पहनावे की नकल भी करता है और मातृभूमि से प्यार का दावा करने से भी नहीं चूकता। उस ज़माने के बहुत सारे कार्टूनों में सिगरेट पीते और पश्चिमी कपड़े पहने थुलथुल व्यक्ति को उपहास का पात्र बनाया जाता था।

© NCERT not to be republished

पैदल जाते। बाहरी और अंदरूनी दुनिया का यह अंतर अभी भी कई लोग बरतते हैं।

कुछ अन्य लोगों ने पश्चिमी और देशी पोशाक को एक साथ पहनकर इस उधेड़बुन से राहत पाई।

लेकिन हम देखेंगे कि वेशभूषा में बदलाव के इस इतिहास में काफ़ी उठा-पटक है।

4.1 जाति-संघर्ष और पोशाक-परिवर्तन

हालाँकि भारत में यूरोपीय किस्म के सम्प्चुअरी कानून नहीं थे, लेकिन यहाँ खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन की अपनी सख्त सामाजिक संहिताएँ थीं। प्रभुत्वशाली जाति व अधीनस्थ जाति के लोग क्या पहनेंगे, क्या खाएँगे, यह जाति प्रथा द्वारा तय था और इन आचार-संहिताओं के पीछे कानून की ताकत थी। इसलिए जब भी पहनावे में बदलाव से इन आचारों का उल्लंघन हुआ, हिंसक सामाजिक प्रतिक्रियाएँ हुईं।

मई 1822 में दक्षिण भारत की त्रावणकोर रियासत में प्रभुत्वशाली जाति के नायरों ने शनार जाति की महिलाओं पर हमला किया, क्योंकि उन्होंने अपने शरीर के ऊपरी भाग पर कपड़े डालने की हिम्मत की थी। आगे के दशकों में वस्त्र-संहिता को लेकर कई हिंसक टकराव होते रहे।

शनार (जिन्हें बाद में नाडर नाम से जाना गया) समुदाय के बहुत से लोग, अधीनस्थ जाति के माने जाते थे। यही कारण है कि उन्हें छतरी लेकर चलने, जूते या सोने के गहने पहनने की मनाही थी। स्थानीय रिवाज़ था कि क्या मर्द, क्या औरत, प्रभुत्वशाली जाति वालों के सामने ऊपरी शरीर कोई नहीं ढँकेगा।

1921 की जनगणना के समय तक शनार समुदाय के सभी सदस्यों के लिए नाडर शब्द का प्रयोग होने लगा।

ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में आकर धर्मांतरित शनार महिलाओं ने 1820 के दशक में सिली हुई ब्लाउज़ों और कपड़ों से प्रभुत्वशाली जाति वालों की तरह अपना तन ढँकना शुरू कर दिया। अय्या बैकुंठर जैसे हिंदू सुधारकों ने भी पोशाक-परिवर्तन की इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जल्द ही नायर जाति के लोग हरकत में आ गए और उन्होंने सरेआम इन औरतों पर हमले करके उनके ऊपरी वस्त्र फाड़ने शुरू कर दिए। अदालत में भी पोशाक-परिवर्तन की इस मुहिम के खिलाफ़ अर्ज़ियाँ दी गईं। ऐसा इसलिए भी हुआ चूँकि शनार इस समय प्रभुत्वशाली जाति की मुफ़्त सेवा-टहल करने से इन्कार करने लगे थे।

शुरू-शुरू में, त्रावणकोर की सरकार ने 1829 में घोषणा करवाई कि शनार औरतें, 'अपने शरीर के ऊपरी हिस्से को ढँकने से बचें।' लेकिन इसके बावजूद शनार ईसाई, यहाँ तक कि शनार हिंदू महिलाओं ने अंगिया, ब्लाउज़ जैसे ऊपरी वस्त्रों को अंगीकार करना जारी रखा।

गतिविधि

अय्या बैकुंठर जैसे उस समय के समाज सुधारकों के बारे में और जानने की कोशिश कीजिए, जिन्होंने पोशाक और व्यापक सामाजिक सुधारों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

त्रावणकोर में 1855 में दास-प्रथा की समाप्ति से प्रभुत्वशाली जाति वाले और कुंठित हुए, उन्हें लगा कि उनका नियंत्रण टूट रहा है। अक्तूबर 1859 में जब एक दिन बाज़ार में शनार महिलाओं पर हमले हुए और उनके कपड़े उतारे गए तो दंगा भड़क उठा। घर लूटे गए, गिरिजाघरों को जलाया गया।

© NCERT not to be republished

आखिर में सरकार ने एक और घोषणा जारी की जिसके तहत शनार महिलाओं – चाहे हिंदू हों या ईसाई – को जैकेट आदि से ऊपरी शरीर को मर्ज़ी मुताबिक ढँकने की इजाज़त मिल गई, लेकिन ठीक 'वैसे नहीं जैसे ऊँची जाति की महिलाएँ' ढँकती थीं।

4.2 ब्रिटिश राज और पोशाक-संहिताएँ

भारतीय वेशभूषा पर अंग्रेज़ों की क्या प्रतिक्रिया हुई? और हिंदुस्तानियों का अंग्रेज़ी रवैये के प्रति क्या रुख रहा?

अलग-अलग संस्कृतियों में किसी भी परिधान के अकसर भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते हैं। इससे कई मौकों पर गलतफ़हमी पैदा होती है, टकराव होते हैं। पहनावे में ब्रिटिश राज के दौरान आए बदलाव इसी टकराव का नतीजा थे।

ज़रा पगड़ी और टोप (हैट) को ही लें। जब शुरू-शुरू में यूरोपीय व्यापारी भारत आने लगे तो उनकी पहचान 'हैटवालों' की थी जबकि हिंदुस्तानियों की 'पग्गड़वालों' की। सिर पर धारण की जाने वाली ये दो चीज़ें न केवल देखने में भिन्न थीं, बल्कि उनके मायने भी जुदा-जुदा थे। भारत में पगड़ी, धूप व गर्मी से तो बचाव करती ही थी, सम्मान का प्रतीक भी थी जिसे जब चाहे उतारा नहीं जा सकता था। पश्चिमी रिवाज तो यह था कि जिन्हें आदर देना हो, सिर्फ़ उनके सामने हैट उतारा जाए। इस सांस्कृतिक भिन्नता से गलतफ़हमी पैदा हुई। ब्रिटिश अफ़सर जब हिंदुस्तानियों से मिलते और उन्हें पगड़ी उतारते न पाते तो अपमानित महसूस करते। दूसरी तरफ़ बहुतेरे हिंदुस्तानी अपनी क्षेत्रीय और राष्ट्रीय **अस्मिता** को जताने के लिए जान-बूझकर पगड़ी पहनते।

इसी तरह का टकराव जूतों को लेकर हुआ। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में रिवाज था कि फ़िरंगी अफ़सर भारतीय शिष्टाचार का पालन करते हुए देसी राजाओं व नवाबों के दरबार में जूते उतारकर जाएँगे। कुछेक अंग्रेज़ अधिकारी भारतीय वेशभूषा भी धारण करते थे। लेकिन 1830 में, सरकारी समारोहों पर उन्हें हिंदुस्तानी लिबास पहनकर जाने से मना कर दिया गया, ताकि गोरे मालिकों की सांस्कृतिक नाक ऊँची बनी रहे।

बॉक्स 3

सिर पर पगड़ी

पेटा के नाम से विख्यात मैसूरी पगड़ी की किनारी पर सोने की पट्टी चढ़ी होती थी। यह पगड़ी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में मैसूर दरबार की दरबारी वर्दी हुआ करती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर में बहुत सारे अफ़सर, शिक्षक और कलाकार पगड़ी पहनने लगे थे। वे अकसर पश्चिमी सूट और पगड़ी, दोनों साथ पहनते थे जो इस बात का प्रतीक था कि वे रियासत के कर्मचारी हैं। अब मैसूरी पगड़ी मुख्य रूप से समारोहों के मौके पर और प्रतिष्ठित मेहमानों के स्वागत के समय ही पहनी जाती है।

चित्र 14 – यूरोपीय मेहमान शाहजहाँ के दरबार में तोहफ़े लाते हुए, आगरा, 1633, पादशाहनामा से। तस्वीर के निचले सिरे पर यूरोपियों की टोपियों को देखिए। गौर करें कि दरबारियों की पगड़ियों और इन मेहमानों की टोपियों में कितना फ़र्क है।

नए शब्द

अस्मिता : पहचान, आत्मबोध।

चित्र 15 – सर एम. विश्वेश्वरैया। जाने-माने इंजीनियर-टैक्नोक्रैट और 1912 से 1918 तक मैसूर रियासत के दीवान। वह पश्चिमी शैली के थ्री-पीस सूट के साथ पगड़ी पहनते थे।

© NCERT not to be republished

लेकिन दूसरी तरफ़ हिंदुस्तानियों से उम्मीद की जाती थी कि वे भारतीय पोशाक-संहिता का पालन करें और दफ़्तर भारतीय परिधान में ही जाएँ। सन् 1824-28 के बीच गवर्नर जनरल एमहर्स्ट इस बात पर अड़ा रहा कि उसके सामने पेश होने वाले हिंदुस्तानी नंगे पाँव आएँ, लेकिन इस ज़िद को कड़ाई से लागू नहीं किया गया। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक, जब लॉर्ड डलहौज़ी गवर्नर जनरल था, 'पादुका सम्मान' की यह रस्म सख़्त हो गई और अब भारतीयों को किसी भी सरकारी संस्था में दाखिल होते समय जूते निकाल देने पड़ते थे। हाँ, यूरोपीय पोशाक पहनने वालों को इससे छूट अवश्य मिली हुई थी। सरकारी सेवा में कार्यरत भारतीय इस नियम से त्रस्त महसूस करने लगे।

'पादुका-सम्मान' नियम के उल्लंघन की एक मशहूर घटना 1862 में सूरत की अदालत में घटी। सूरत की फ़ौजदारी अदालत में असेसर (लगान आँकनेवाले) के ओहदे पर कार्यरत मनोकजी कोवासजी एन्टी ने सत्र न्यायाधीश की अदालत में जूते उतारने से इन्कार कर दिया। जज ज़िद किए रहा कि श्रेष्ठ को आदर देने की हिंदुस्तानी परंपरा के मुताबिक उन्हें जूते उतारने ही होंगे, लेकिन मनोकजी भी अड़े रहे। तब अदालत में उनके प्रवेश पर पाबंदी लगा दी गई और उन्होंने विरोध जताते हुए बंबई के गवर्नर को पत्र लिखा।

अंग्रेज़ों का कहना था कि चूँकि भारतीय किसी भी पवित्र स्थान या घर में घुसने से पहले जूते उतारते ही हैं, तो वे अदालत में भी वैसा ही क्यों न करें। इस पर जो बहस चली उसमें भारतीयों ने कहा कि पवित्र जगहों या घर की बात दूसरी है। पहली बात तो यह कि बाहर में धूल और गंदगी होती है, जो जूतों में लगकर अंदर साफ़-सुथरी जगहों तक चली आएगी, जहाँ लोग अकसर ज़मीन पर ही बैठते-लेटते हैं। दूसरी बात, चमड़े का जूता तो वैसे ही अशुद्ध होता है। लेकिन अदालत जैसी सार्वजनिक जगह आखिर घर तो है नहीं।

इन सबके बावजूद, अदालत में जूतों के प्रवेश की इजाज़त मिलने में बरसों लग गए।

स्रोत घ

जब सूरत की फ़ौजदारी अदालत में मनोकजी से अपने जूते उतारने के लिए कहा गया (1862) तो उन्होंने जज से कहा कि वह अपनी पगड़ी उतार सकते हैं लेकिन जूते नहीं उतारेंगे। उन्होंने कहा :

'पगड़ी उतारना अदालत के मुकाबले मेरे लिए कहीं ज्यादा बड़ी बेइज्जती होती लेकिन मैं पगड़ी उतारने का हुक्म मान लेता क्योंकि इस मामले में चेतना या धर्म का कोई मामला नहीं है। जूतों के जरिए मैं किसी का सम्मान या अपमान नहीं कर रहा हूँ लेकिन सिर पर पगड़ी पहनना हमारे लिए किसी के भी प्रति सबसे ज्यादा सम्मानपरक बात होती है। घर में हम पगड़ी पहन कर नहीं रहते लेकिन जब भी बाहर किसी सम्मानित व्यक्ति से मिलने जाते हैं तो अपने सामाजिक संस्कारों के कारण पगड़ी पहन कर ही जाते हैं। पर अपने सामाजिक मेल-मिलाप में हम (पारसी) किसी के सामने जूते नहीं उतारते चाहे वह आदमी कितना भी बड़ा क्यों न हो...।'

क्रियाकलाप

कल्पना कीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के मुसलमान हैं और आपको सदी के आखिर में इलाहाबाद उच्च न्यायालय में पेश होना है। आप किस तरह के कपड़े पहनेंगे? क्या वे कपड़े उन कपड़ों से बहुत अलग किस्म के होंगे जिन्हें आप घर पर पहनते हैं?

© NCERT not to be republished

5 राष्ट्रीय पोशाक का डिज़ाइन

उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारत में चारों ओर राष्ट्रीय भावना हिलोरें मारने लगी और भारतवासी राष्ट्रीय एकता को व्यक्त करने वाले सांस्कृतिक प्रतीक गढ़ने में जुट गए। कलाकार राष्ट्रीय शैली की कला तलाश रहे थे जबकि कवि राष्ट्रगान रच रहे थे। राष्ट्रीय झंडे के डिज़ाइन को लेकर भी बहस छिड़ी। राष्ट्रीय पोशाक की खोज राष्ट्र की पहचान को प्रतीकात्मक ढंग से परिभाषित करने की इसी प्रक्रिया का हिस्सा थी।

हिंदुस्तान के कई भागों में ऊँची जाति व वर्ग के स्त्री-पुरुषों ने पोशाक को लेकर सचेत प्रयोग किए। बंगाल के टैगोर खानदान ने 1870 के दशक से ही हिंदुस्तानी मर्दों और औरतों के लिए राष्ट्रीय पोशाक डिज़ाइन करने की कोशिश की। रबीन्द्रनाथ टैगोर की राय थी कि भारतीय राष्ट्रीय पोशाक में हिंदुस्तानी और फ़िरंगी परिधान का नहीं बल्कि हिंदू और मुसलमानी पोशाक का मेल होना चाहिए। इस तरह बटनदार लंबा कोट, यानी चपकन, पुरुषों के लिए सबसे सही माना गया।

इसी तर्ज़ पर अलग-अलग क्षेत्रों की पारंपरिक वेशभूषा से प्रेरणा ली गई। आईसीएस के पहले भारतीय सदस्य सत्येन्द्रनाथ टैगोर की पत्नी ज्ञानदानंदिनी देवी 1870 के दशक में बंबई से कलकत्ते लौटकर आईं। उन्होंने पारसी शैली की साड़ी अपनायी, जिसका पल्लू बाएँ कंधे पर ब्रूच से गुँथा होता था और उसके साथ ब्लाउज़ और जूतियाँ पहनी जाती थीं। इसको फ़ौरन ब्रह्म समाजी महिलाओं ने भी अपना लिया और तब से इसे ब्रह्मिका साड़ी कहा जाने लगा। यह शैली जल्द ही महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के ब्रह्म-समाजियों और गैर ब्रह्म-समाजियों में चल पड़ी।

चित्र 16 - लेडी बच्चूबाई (1890) मशहूर पारसी सामाजिक कार्यकर्ता.
इन्होंने रेशमी गारा पहन रखा है, जिस पर हंस और पिओनी नामक अंग्रेज़ी फूल का काम है।
सौजन्य: पारसी ज़ोरैस्ट्रियन प्रॉजेक्ट, नई दिल्ली।

चित्र 17 *- ज्ञानदानंदिनी टैगोर (बाएँ) अपने पति सत्येंद्रनाथ टैगोर और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ। उन्होंने पश्चिमी गाउन की तर्ज पर बने ब्लाउज़ के साथ साड़ी पहनी है।*
सौजन्य : रबीन्द्र भवन फ़ोटो आर्काइव्ज़, विश्व भारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन।

चित्र 18 *- आर. सी. दत्त की बेटी सरला। उन्होंने पारसी-किनारी वाली साड़ी और मखमल का ऊंचे गले वाला ब्लाउज़ पहना है। देखें कि पहनावे की शैलियाँ किस तरह तमाम क्षेत्रों और संस्कृतियों में बदल रही थीं।*

नए शब्द

ब्रह्म समाज - उन्नीसवीं सदी का एक धर्म-सुधार आंदोलन।

© NCERT not to be republished

लेकिन अखिल-भारतीय शैली विकसित करने की ये कोशिशें पूरी तरह सफल नहीं हुईं। आज भी गुजरात, कोडागू, केरल और असम की महिलाएँ भिन्न-भिन्न किस्म की साड़ियाँ पहनती हैं।

स्रोत च

कुछ लोगों ने औरतों के पहनावे में बदलाव की कोशिशों का समर्थन किया जबकि कुछ लोग इसके विरुद्ध थे।

'कोई भी सभ्य देश उस तरह के कपड़ों के खिलाफ़ है जिस तरह के कपड़े हमारे देश की महिलाएँ आजकल पहनती हैं। यह निहायत बेशर्मी की निशानी है। शिक्षित पुरुष इस स्थिति से बड़े परेशान हैं। तकरीबन हर व्यक्ति सभ्य किस्म के नए पहनावे की चाह रखता है ...हमारे यहाँ बहुत बारीक और पारदर्शी किस्म के कपड़े पहनने का रिवाज चल पड़ा है जिनसे पूरा शरीर दिखने लगता है। इस तरह के बेशर्मी भरे पहनावे की ही वजह से अब सभ्यजनों की संगत नहीं मिल पाती... इस तरह के कपड़े हमारे नैतिक उत्थान में बाधक बन सकते हैं।'

सौदामिनी खस्तागिरी, *स्त्रीलोकेर परिच्छद* (1872)।

चित्र 19 - त्रावणकोर की महारानी (1930).
पश्चिमी जूतों और लंबी बाँह की मर्यादित ब्लाउज़ पर ध्यान दें। बीसवीं सदी के आरंभ में यह शैली उच्च वर्ग में आम हो चली थी।

स्रोत छ

सी. केशवन अपनी आत्मकथा *जीविता समरम* में बताते हैं कि जब उन्नीसवीं सदी के आखिरी समय में उनकी सास को पहली बार उनकी ननद ने ब्लाउज़ लाकर दिया था तो क्या स्थिति पैदा हुई थी :

'देखने में अच्छा था लेकिन उसे पहनने पर मुझे गुदगुदी सी होती थी। मैंने उसे उतारा, ध्यान से तह किया और उत्साहपूर्वक मैं उसे अपनी माँ के पास लेकर गई। उन्होंने कड़ी नज़रों से मुझे देखा और कहा ''तुम उसे पहन कर कहाँ आवारागर्दी करने जा रही हो? तह करके संदूक में रख दो।'' ... मैं अपनी माँ से डरती थी। वह मेरी जान ले लेती। रात में मैंने उसे फिर पहना और पति को दिखाया। उन्होंने कहा कि वह मुझ पर अच्छा लग रहा है। [अगली सुबह] मैं ब्लाउज़ पहन कर बाहर आयी। ...मैंने ध्यान नहीं दिया कि बगल से मेरी माँ चली आ रही थी। तभी मैंने उन्हें नारियल की एक डाली तोड़ते सुना। जैसे ही मैं पीछे घूमी, वह गुस्से में काँपती मेरे सामने खड़ी थी। ... उन्होंने कहा, ''उतारो इसे... अब तुम मुसलमानियों जैसी कमीज़ें पहन कर घूमोगी?''

क्रियाकलाप

ये दोनों उक्तियाँ (स्रोत च और छ) लगभग एक ही समय की हैं, भले ही भारत के दो अलग हिस्सों-केरल और बंगाल से। इनसे आपको ज़नाना पोशाक और शर्म के आपसी रिश्ते के बारे में क्या पता चलता है?

5.1 स्वदेशी आंदोलन

आपने बीसवीं सदी के पहले दशक में बंगाल में हुए स्वदेशी आंदोलन के बारे में पढ़ा है। अगर आपने गौर किया हो तो पाया होगा कि इस आंदोलन के केंद्र में पहनावे की राजनीति थी।

क्या थी यह राजनीति?

आपको पता है कि अंग्रेज़ जब पहले-पहल व्यापार करने आए तो हिंदुस्तानी सूती वस्त्र की ज़बर्दस्त माँग पूरी दुनिया में थी। सत्रहवीं सदी में पूरे विश्व के उत्पाद का एक-चौथाई भारत में बनता था। अठारहवीं सदी के मध्य में अकेले बंगाल में दस लाख बुनकर थे। लेकिन ब्रिटेन में हुई

2018-19
© NCERT not to be republished

औद्योगिक क्रांति ने कताई और बुनाई का मशीनीकरण कर दिया–कच्चे माल के रूप में कपास और नील की माँग बढ़ गई–और इसके साथ ही बदल गई विश्व अर्थव्यवस्था में भारत की हैसियत।

हिंदुस्तान पर राजनीतिक हुकूमत से ब्रिटेन को दो फ़ायदे हुए: भारतीय किसानों को नील जैसी फ़सलें उगाने के लिए मजबूर किया जा सकता था और सस्ते बने ब्रिटिश उत्पाद आसानी से यहाँ बने मोटे कपड़ों की जगह खपाए जा सकते थे। नतीजा यह हुआ कि माँग के अभाव में भारत के बुनकर बड़ी तादाद में बेरोज़गार हो गए और मुर्शिदाबाद, मछलीपट्टनम और सूरत जैसे सूती वस्त्र के केंद्रों का पतन हो गया।

लेकिन बीसवीं सदी में आकर बड़ी संख्या में लोगों ने ब्रिटिश मिलों में बने कपड़ों का बहिष्कार शुरू कर दिया और उनकी जगह खुरदरी, महँगी और दुर्लभ खादी पहनने लगे। यह बदलाव कैसे आया?

ब्रिटिश राज के खिलाफ़ बढ़ते विरोध को काबू में करने के लिए लॉर्ड कर्ज़न ने 1905 में बंगाल को विभाजित करने का फ़ैसला किया। 'बंग-भंग' की प्रतिक्रिया में स्वदेशी आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा। पहले तो लोगों से अपील की गई कि वे तमाम तरह के विदेशी उत्पादों का बहिष्कार करें और माचिस और सिगरेट जैसी चीज़ों को बनाने के लिए खुद उद्योग लगाएँ। जन आंदोलन में शामिल लोगों ने कसम खाई कि वे औपनिवेशिक राज का खात्मा करके दम लेंगे। खादी का इस्तेमाल देशभक्ति का कर्तव्य बन गया। महिलाओं से अनुरोध किया गया कि रेशमी कपड़े व काँच की चूड़ियों को फेंक दें और शंख की चूड़ियाँ पहनें। हथकरघे पर बने मोटे कपड़े को लोकप्रिय बनाने के लिए गीत गाए गए, कविताएँ रची गईं।

क्रियाकलाप

अगर आप गरीब किसान होते तो क्या खुशी-खुशी मिल के कपड़ों का त्याग कर देते?

पोशाक में बदलाव की बात ऊँचे तबके के लोगों को ज़्यादा भायी क्योंकि साधनहीन गरीबों के लिए नई चीज़ें खरीद पाना मुश्किल था। करीब पंद्रह साल के बाद उच्च वर्ग वाले भी वापस यूरोपीय पोशाक पहनने लगे।

हालाँकि उस समय बहुत सारे लोग राष्ट्रहित में एक साथ आ जुटे थे, लेकिन बाज़ारों में अटी पड़ी सस्ती ब्रिटिश वस्तुओं को चुनौती देना लगभग असंभव था।

इन सीमाओं के बावजूद स्वदेशी के तजुर्बे ने महात्मा गांधी को यह सीख अवश्य दी कि ब्रिटिश राज के खिलाफ़ प्रतीकात्मक लड़ाई में कपड़े की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

चित्र 20 - महात्मा गांधी की चिर-परिचित तस्वीर, खुले बदन चरखा कातते हुए.

5.2 महात्मा गांधी के पोशाक-प्रयोग

महात्मा गांधी की सर्वपरिचित छवि वह है, जिसमें वे खुले बदन, छोटी धोती पहने, चरखा कात रहे हैं। चरखा कातने और खादी के दैनिक इस्तेमाल को उन्होंने महाप्रतीकों में बदल दिया। आत्मनिर्भरता के इन प्रतीकों में ब्रिटिश मिलों में बने कपड़ों का विरोध भी प्रतिबिंबित था।

© NCERT not to be republished

महात्मा गांधी के वस्त्र-संबंधी प्रयोगों में भारतीय उप-महाद्वीप में पहनावे के प्रति बदलते रवैये का सार छुपा हुआ है। गुजराती बनिया परिवार में पैदा होने के कारण अपने लड़कपन में वे कमीज़ के साथ धोती या पायजामा पहनते थे और कभी-कभार कोट भी। उन्नीस साल की उम्र में 1888 में जब वे कानून पढ़ने लंदन गए तो उन्होंने अपनी चोटी कटवा ली और बाकायदा पश्चिमी सूट अपना लिया ताकि लोग उनपर हँसें नहीं। वापसी पर भी उन्होंने पश्चिमी सूट पहनना जारी रखा, भले ही एक पगड़ी और डाल ली। दक्षिण अफ़्रीका के जोहानेसबर्ग में 1890 के दशक में वकालत करते हुए उनका पहनावा पश्चिमी ही रहा।

लेकिन जल्द ही उन्होंने फ़ैसला किया कि 'असूटित' रहना एक तरह की राजनीतिक घोषणा है। लुंगी-कुर्ता पहनने का पहला प्रयोग उन्होंने 1913 में डर्बन में किया, जब कोयला-खदान मज़दूरों को गोली मारे जाने के खिलाफ़ सिर मुँड़ाकर उन्होंने अपना सार्वजनिक शोक ज़ाहिर किया।

भारत वापसी पर 1915 में वह काठियावाड़ी किसान की वेशभूषा में रहने लगे। 1921 में जाकर उन्होंने वह छोटी धोती धारण की जिसे वे आजीवन पहनते रहे। साल भर में स्वराज हासिल करने के उद्देश्य से असहयोग आंदोलन शुरू करने के एक साल बाद, 2 सितंबर 1921, को उन्होंने एलान किया:

'मैं चाहता हूँ कि 31 अक्तूबर तक कम से कम अपनी टोपी और गंजी तो त्याग ही दूँ, और सिर्फ़ धोती से काम चलाऊँ, और देह बचाने के लिए

चित्र 21 – महात्मा गांधी 7 साल के, अपनी सबसे पुरानी तस्वीर में.

चित्र 21 – महात्मा गांधी 14 साल के, अपने एक दोस्त के साथ.

चित्र 23 – महात्मा गांधी (अगली पंक्ति में, दाहिने) लंदन में, 1890, उम्र 21 वर्ष. गौर कीजिए कि बाकायदा पश्चिमी थ्री-पीस सूट में हैं।

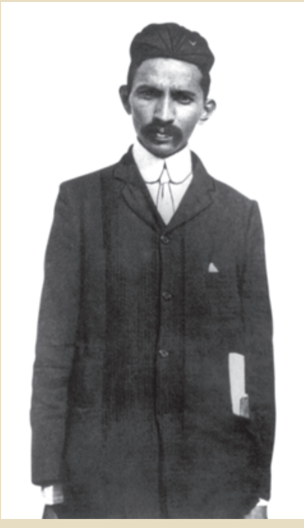

चित्र 24 – जोहानेसबर्ग 1900 ई. अब तक पश्चिमी लिबास में, टाई भी है.

चित्र 25 – सन् 1913. दक्षिणी अफ़्रीका सत्याग्रह की पोशाक में

भारत और समकालीन विश्व

चित्र 26 – कस्तूरबा के साथ महात्मा गांधी – दक्षिण अफ़्रीका से लौटने के बाद। सादे लिबास में। उन्होंने बाद में स्वीकार किया कि बंबई के पश्चिमीकृत अभिजात वर्ग के बीच उन्हें अटपटा-सा लगा। उन्होंने कहा कि उन्हें दक्षिण अफ़्रीका के मज़दूरों की संगति में घर-जैसा महसूस हुआ।

कभी-कभी चादर ले लूँ। मैं इस बदलाव की सलाह इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि 'पर उपदेस कुशल बहुतेरे' में मेरी आस्था नहीं है...। (यानी मैं दूसरों से ऐसा कुछ करने को नहीं कहता जो खुद नहीं कर सकता।)

तब तक उन्होंने यह तय नहीं किया था कि वे यही पोशाक जीवन-भर पहनेंगे बल्कि वह 'एक-दो महीने के लिए प्रयोग' भर करना चाहते थे। लेकिन जल्द ही इसमें उन्हें गरीबों के प्रति निष्ठा का भाव दिखा, और उन्होंने कभी कोई और वस्त्र धारण नहीं किया। हिंदुस्तान के फ़कीर-संन्यासियों का बाना सचेत रूप से छोड़कर उन्होंने निर्धनतम भारतीय का पहनावा अपनाया। सफ़ेद और खुरदरी खादी उनके लिए शुद्धता, सादगी और गरीबी का प्रतीक थी। इसे पहनना राष्ट्रभक्ति का पर्याय हो गया और पश्चिमी मिल-उत्पादित कपड़ों के विरोध का भी।

जब 1931 में गोलमेज़ सम्मेलन के लिए गांधीजी इंग्लैंड गए तो बिना कमीज़ के वही छोटी धोती पहने हुए। जब बकिंघम पैलेस जाने की बारी आई तो उन्होंने समझौता करने से इन्कार कर दिया और सम्राट जॉर्ज पंचम के सामने भी धोती में ही पधारे। जब पत्रकारों ने उनसे कहा कि सम्राट के हुज़ूर में जाने के लिए उन्होंने पर्याप्त कपड़े नहीं पहन रखे हैं, तो उन्होंने मज़ाक-मज़ाक में जवाब दिया कि 'सम्राट ने हम दोनों के हिस्से के कपड़े पहन तो रखे हैं'!

© NCERT not to be republished

5.3 खादी पहनना सबके बूते में नहीं था

महात्मा गांधी का सपना था कि पूरा राष्ट्र खादी पहने। उन्हें लगता था कि खादी से जाति-धर्म आदि के भेद मिट जाएँगे। लेकिन उनके नक्शे-कदम पर चलना क्या सबके लिए आसान था? क्या इस तरह की एकता मुमकिन थी? बहुत सारे लोग उनके जैसा इकहरा किसानी वस्त्र नहीं अपना सकते थे। सब चाहते भी नहीं थे। आइए देखें कि गांधी के आह्वान पर कैसी प्रतिक्रियाएँ आईं:

- इलाहाबाद के सफल वकील और राष्ट्रवादी मोतीलाल नेहरू ने अपना बेशकीमती पश्चिमी सूट त्याग दिया और हिंदुस्तानी धोती-कुर्ता अपना लिया। लेकिन उनकी पोशाक मोटे-खुरदुरे कपड़े की न होकर बारीक कपड़े से बनी होती थी।
- जाति-प्रथा के चलते सदियों से वंचित तबकों का पश्चिमी शैली के कपड़ों के प्रति सहज आकर्षण था। इसलिए बाबा साहब अंबेडकर जैसे राष्ट्रभक्तों ने पाश्चात्य शैली का सूट कभी नहीं छोड़ा। कई सारे दलित 1910 के दशक में सार्वजनिक मौकों पर जूते-मोज़े और थ्री-पीस सूट पहनने लगे, जो कि उनकी तरफ़ से आत्मसम्मान का राजनीतिक वक्तव्य था।
- एक महिला ने 1928 में महात्मा गांधी को महाराष्ट्र से लिखा, 'एक साल पहले मैंने आपको हर किसी के खादी पहनने की गंभीर ज़रूरत पर बोलते सुना और हमने खादी अपनाने की ठानी। लेकिन हम गरीब-गुरबा हैं, हमारे पति कहते हैं कि खादी महँगी है। मैं मराठी होने के नाते 9 गज़ की साड़ी पहनती हूँ... (और) बड़े-बुज़ुर्ग उसे घटाकर 6 गज़ करने की बात पर राज़ी नहीं होंगे'।
- सरोजिनी नायडू और कमला नेहरू जैसी महिलाएँ भी सफ़ेद, हाथ से बुने मोटे कपड़ों की जगह रंगीन व डिज़ाइनदार साड़ियाँ पहनती थीं।

निष्कर्ष

इस तरह पहनावे में बदलाव का इतिहास एक तरफ़ जहाँ सांस्कृतिक रुचि और सौंदर्य की परिभाषा में बदलाव से जुड़ा है, वहीं यह आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक व राजनीतिक संघर्ष के मसलों से भी उलझा हुआ है। इसलिए वेशभूषा में जब परिवर्तन दिखे, तो हमें पूछना चाहिए : ये परिवर्तन क्यों होते हैं? इनसे हमें समाज और उसके इतिहास के बारे में क्या पता चलता है? इनसे हमें रुचि और टेक्नॉलाजी (प्रौद्योगिकी), बाज़ार और उद्योग में आए किन बदलावों के बारे में जानकारी मिलती है?

क्रियाकलाप

भाग 5.3 में इस आशय के कुछ कारण दिए गए हैं कि भारत के कुछ वर्गों, जातियों और क्षेत्रों में खादी क्यों नहीं फैल पायी। क्या आप इनके अलावा और कोई कारण भी बता सकते हैं?

© NCERT not to be republished

बॉक्स 4

गांधी टोपी

दक्षिण अफ़्रीका से 1915 में भारत लौटने के बाद गांधी जी जो कश्मीरी टोपी कभी-कभार पहनते थे, उसे उन्होंने सस्ती, सफ़ेद खादी टोपी का रूप दे दिया। यह टोपी वह खुद 1919 के बाद दो साल तक पहनते रहे थे, फिर छोड़ दी। लेकिन तब तक यह राष्ट्रीय वर्दी बन चुकी थी – अंग्रेज़ों के खिलाफ़ अवज्ञा का प्रतीक। मिसाल के तौर पर, ग्वालियर रियासत ने असहयोग आंदोलन के दौरान 1921 में इसे पहनने पर पाबंदी लगाने की कोशिश की। खिलाफ़त आंदोलन के दौरान बड़ी तादाद में हिंदू और मुसलमान इस टोपी में देखे गए। संथालों की एक टोली ने 1922 में बंगाल पुलिस पर हल्ला बोल दिया। उनकी माँग थी कि संथाल कैदियों को रिहा किया जाए और उन्हें भरोसा था कि गांधी टोपी के चलते गोलियों से उनका बाल बाँका न होगा : टोली के तीन सदस्य खेत रहे।

कई सारे राष्ट्रभक्त गांधी टोपी पहनकर चलना अपनी शान मानते थे और कई लोगों को तो इस कारण लाठियाँ पड़ीं या जेल जाना पड़ा। पहले विश्वयुद्ध के बाद खिलाफ़त आंदोलन के ज़ोर पकड़ने पर फुँदनेवाली तुर्की टोपी पहनना हिंदुस्तान में उपनिवेशवाद-विरोधी भावना का प्रतीक बन गया। हालाँकि ढेर सारे हिंदू-जैसे कि हैदराबाद के भी-फ़ैज़ टोपी पहनते थे, लेकिन जल्द ही यह सिर्फ़ मुसलमानों की पहचान बन गई।

© NCERT not to be republished

चित्र 27 *– महात्मा गांधी पगड़ी में.*

चित्र 28 *– जड़ाऊ कश्मीरी टोपी पहने.*

चित्र 29 *– गांधी टोपी लगाए.*

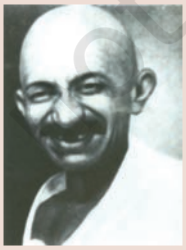

चित्र 30 *– सिर मुँड़ाने के बाद.*

चित्र 31 – अपनी 1931 की यूरोप यात्रा पर.
अब तक उनके कपड़े पश्चिमी सांस्कृतिक वर्चस्व के विरोध की अभिव्यक्ति बन गए थे।

क्रियाकलाप

1. कल्पना कीजिए कि आप एक व्यापारी के 14-वर्षीय बेटे हैं। इस बारे में एक पैराग्राफ़ लिखिए कि फ़्रांस में लागू किए गए सम्प्चुअरी कानूनों के बारे में आप क्या सोचते हैं।
2. क्या आप बता सकते हैं कि आजकल सही और गलत पहनावे के बारे में लोग क्या सोचते हैं? ऐसे दो तरह के कपड़े बताइए जिन्हें पहनना एक जगह पर गलत माना जाता है और किसी दूसरी जगह सही माना जाता है।

क्रियाकलाप

प्रश्न

1. अठारहवीं शताब्दी में पोशाक शैलियों और सामग्री में आए बदलावों के क्या कारण थे?
2. फ़्रांस के सम्प्चुअरी कानून क्या थे?
3. यूरोपीय पोशाक संहिता और भारतीय पोशाक संहिता के बीच कोई दो फ़र्क बताइए।
4. 1805 में अंग्रेज़ अफ़सर बेंजमिन हाइन ने बंगलोर में बनने वाली चीज़ों की एक सूची बनाई थी, जिसमें निम्नलिखित उत्पाद भी शामिल थे:
   - अलग-अलग किस्म और नाम वाले ज़नाना कपड़े।
   - मोटी छींट
   - मखमल
   - रेशमी कपड़े

   बताइए कि बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में इनमें से कौन-कौन से किस्म के कपड़े प्रयोग से बाहर चले गए होंगे, और क्यों?
5. उन्नीसवीं सदी के भारत में औरतें परंपरागत कपड़े क्यों पहनती रहीं जबकि पुरुष पश्चिमी कपड़े पहनने लगे थे? इससे समाज में औरतों की स्थिति के बारे में क्या पता चलता है?
6. विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि महात्मा गांधी 'राजद्रोही मिडिल टेम्पल वकील' से ज़्यादा कुछ नहीं हैं और 'अधनंगे फकीर का दिखावा' कर रहे हैं।

   चर्चिल ने यह वक्तव्य क्यों दिया और इससे महात्मा गांधी की पोशाक की प्रतीकात्मक शक्ति के बारे में क्या पता चलता है?
7. समूचे राष्ट्र को खादी पहनाने का गांधीजी का सपना भारतीय जनता के केवल कुछ हिस्सों तक ही सीमित क्यों रहा?

?

© NCERT not to be republished

आभार

फ़ोटोग्राफ़ और चित्र

इस पुस्तक के विषय में हम निम्नलिखित के प्रति आभार व्यक्त करते हैं :

संस्थान और चित्र संग्रहालय

सेंट्रल स्टेट आर्काइव्ज़ ऑफ़ फ़िल्म-फ़ोटो फ़ोनो डॉक्यूमेंट्स ऑफ़ द यूएसएसआर (II:13)
सेंटर फ़ॉर वीमेन्स डिवेलपमेंट स्टडीज़, ट्रेवलिंग एग्ज़िबिशन 'री-प्रेज़ेंटिंग इंडियन वीमेन-ए विज़ुअल डॉक्यूमेंट्री 1875-1947' (VIII: 16, 17)
फ़ॉरेस्ट रिसर्च इंस्टिट्यूट, देहरादून (IV: 17)
ज्यूइश हिस्टॉरिकल इंस्टिट्यूट, वॉरसॉ, पोलैंड (III: 31)
लाइब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़्स डिविज़न (VIII: 8)
मायदानेक म्यूज़ियम आर्काइव्ज़, लुबलिन, पोलैंड (III: 22)
नॉर्थ डकोटा स्टेट युनिवर्सिटी लाइब्रेरीज़ (VI: 8, 9, 13, 14, 15)
प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार (गांधीजी से संबंधित अधिकांश चित्र)
रबीन्द्र भवन फ़ोटो आर्काइव्ज़, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन (VIII: 16, 17)
द मासाई एसोसिएशन (VI: 12, 14, 15, 16, 17)
द युनाइटेड स्टेट्स हॉलोकास्ट मैमोरियल म्यूज़ियम (II: 14, 22)
युनेस्को पारज़ोर प्रोजेक्ट (VIII: 18)

जर्नल्स

ग्राफ़िक्स (VII: 9)
इंडियन शारीवारी (VIII: 13)
इंडियन फ़ॉरेस्ट रिकॉर्ड्स, खंड XV (VI: 9)
इंडियन फ़ॉरेस्टर (IV: 10, 11)
मैन इन इंडिया, 1948 (VI: 18)
द इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़ (II: 2; VII: 7, 8, 9, 16)

व्यक्ति

बरनेला, संजय (IV: 11, 12, 15, 16; V: 8, 10)
गुहा, रामचंद्र (VII: 10, 11, 13, 14)
मांगलिक, मुकुल (VI: 1, 2, 5, 6, 7, 9)
सबरवाल, वसंत (V: 3, 4)
सुंदर, नंदनी (IV: 6, 13, 14, 17)

प्रकाशक एवं लेखक

बैलेंटाइन, बैटी एवं इयान बैलेंटाइन, सं., द *नेटिव अमेरिकन्स : एन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री.* एटलांटा : टर्नर पब्लिशिंग इं., 1993 (IV: 2)
बार्टलैट, रिचर्ड ए, *द न्यू कन्ट्री : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द अमेरिकन फ़्रंटियर 1776-1890*, ओयूपी न्यूयार्क (VI: 10, 11, 12)
बेरेलोविच, व्लादिमीर एवं लॉरेंट गेरवेरयो, *रूसी यूआरएसएस 1914-1991*, (II: 10)
बर्ले, माइकेल एवं वुल्फ़गैंग वाइपरमान, *द रेशियल स्टेट : जर्मनी 1933-1945* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस (III: 13, 15, 16, 25, 31, 32)
डेविडसन, यूजीन, *द मेकिंग ऑफ़ एडोल्फ़ हिटलर : द बर्थ एंड राईज़ ऑफ़ नात्सिज़्म,* युनिवर्सिटी ऑफ़ मिसूरी प्रैस, 1977 (III: 4, 5, 6)
गुहा, रामचंद्र, *ए कॉर्नर ऑफ़ ए फ़ॉरेन फ़ील्ड : द इंडियन हिस्ट्री ऑफ़ ए ब्रिटिश स्पोर्ट*, पिकेडॉर, 2002 (VII: 10, 11, 13, 14)
कार्लेकर, मालविका, सं., *विज़ुअलाइज़िंग इंडियन वीमैन 1875-1947*, ओयूपी, नई दिल्ली।
मैकफ़रलेन, एलन, एवं आइरिस मैकफ़रलेन, *ग्रीन गोल्ड : द एम्पायर ऑफ़ टी*, लंदन: इब्युरी प्रैस, 2003 (VI: 7)
मूरहाउस, ज्यॉफ़्री, हॉडेर एवं स्टाउटन, *लॉर्ड्स*, सेवनओक्स, 1983 (VII: 2, 6)
मोयनाहन, ब्रायन, द *रशियन सेंचुरी,* सेवन डायल्स इलस्ट्रेटेड डिविजन, द ओरियॉन पब्लिशिंग ग्रुप, 1999 (II: 5, 7, 8, 19)
ओबोलेंस्की, चोले, द *रशियन एम्पायर : ए पोर्ट्रेट इन फ़ोटोग्राफ़्स,* जोनाथन केप लि., लंदन, 1980 (II: 6)
ओव्श्चैस्त्वो आई व्लास्त वी 30-येगोदी, मॉस्को 1998 (II: 15, 16, 17)
पेलुसो, नैन्सी, *रिच फ़ॉरेस्ट्स, पुअर पीपुल*, बर्कले : युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रैस, 1992 (IV: 15, 21, 24)
रीस, लॉरेंस, *द नात्सीज़ : ए वार्निंग फ़्रॉम हिस्ट्री*, द न्यू प्रैस, न्यूयॉर्क, 1997, (III: 7, 17)
रूहे, पीटर, *गांधी*, फ़ायडन, लंदन, 2001 (VIII: 23, 31)
र्‍यरुप, रीनहार्ड, सं., *टोपोग्राफ़ी ऑफ़ टैरर : ए डॉक्यूमेंटेशन,* वरलाग विलमथ एरेनहॉवल, बर्लिन, 1987 (III: 1, 3, 18, 27)
स्कॉट, जेम्स, *सीइंग लाइक ए स्टेट*, न्यू हैवन : येल युनिवर्सिटी प्रैस, 1998 (IV: 8)
स्टैबिंग, ई. पी., *द फ़ॉरेस्ट्स ऑफ़ इंडिया,* जॉन लेन, लंदन (IV: 3, 4, 5, 13, 14, 21)
टार्लो, एम्मा, *क्लोदिंग मैटर्स : ड्रेस एंड आइडेंटिटी इन इंडिया,* वाइकिंग पेंग्विन इंडिया, 1996 (VIII: 27, 28, 29, 30)
द *टाइम्स एटलस ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, सं. ज्यॉफ़्री बाराक्लफ़, हैमन्ड, 1985 (IV: 22)
वेग्नर, ग्रेगरी पॉल, *एंटी सेमिटिज़्म ऐन्ड स्कूलिंग* अंडर द थर्ड राइख, रटलेज फ़ालमेर 2002 (III: 23, 24)
वेल्च डेविड, द *थर्ड राइख : पॉलिटिक्स ऐन्ड प्रोपेगंडा*, रटलेज, लंदन 1993, (III: 10)
वूर्स्टर, डोनाल्ड, *डस्ट बाउल : द सदर्न प्लेन्स इन द 1930ज़,* ओयूपी, न्यूयॉर्क 1979 (VI: 16, 17)

पाठ

कुछ अध्याय या उनके हिस्से उल्लेखनीय रूप से निम्नलिखित पर आधारित हैं :

गुहा, रामचंद्र, *ए कॉर्नर ऑफ़ ए फ़ॉरेन फ़ील्ड : द इंडियन हिस्ट्री ऑफ़ ए ब्रिटिश स्पोर्ट*, पिकेडॉर, 2002 (VII)
मार्केसी, माइक, *एनीवन बट इंग्लैंड,* वर्सो, 1995 (VII)
पेलुसो, नेन्सी, *रिच फ़ॉरेस्ट्स, पुअर पीपुल*, बर्कले : युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रैस, 1992 (IV: भाग 4)
वूर्स्टर, डोनाल्ड, *डस्ट बाउल : द सदर्न प्लेन्स इन द 1930ज़,* ओयूपी : न्यूयॉर्क, 1979 (VI: भाग 2.5)

__नोट :__ हमने सभी कॉपीराइट धारकों को सूचना भेज दी है। यदि संबंधित प्रकाशक को इस बारे में कोई नोटिस दिया जाता है तो उसके आधार पर अगली छपाई में आवश्यक सुधार कर लिया जाएगा।